

मुद्रास्फीति और बेरोजगारी

मिल्टन फ्रायडमैन

बैंक ऑफ स्वीडन ने जब अल्फ्रेड नोबेल (1968) की याद में अर्थशास्त्र के लिए पुरस्कार की स्थापना की थी तो इसे भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र और चिकित्सा शास्त्र के समकक्ष मानने को लेकर वैज्ञानिकों और आम लोगों में एक पूर्वाग्रह-सा था। इस तुलना को लेकर न केवल तब बल्कि आज भी संदेह भरा वह पूर्वाग्रह जस का तस है। दरअसल उन्हें अर्थशास्त्र की तुलना में ज्यादा विशुद्ध विज्ञान माना जाता था जिसकी सुस्पष्ट परिभाषा थी और जिससे हर व्यक्ति के फायदे का कुछ उद्देश्यपूर्ण हासिल किया जा सकता था। अर्थशास्त्र और उसके हमकदम सामाजिक विज्ञानों को विज्ञान की बनिस्बत दर्शनशास्त्र के ही विभिन्न हिस्सों की तरह माना जाता है। सोच कुछ ऐसी है कि चूंकि यह मानव स्वभाव से जुड़ी बात है इसलिए इसे विज्ञान की अन्य शाखाओं की तरह स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं किया जा सकता। तो क्या अपने और अपने समकालीन लोगों के व्यवहार का गंभीरता के साथ विश्लेषण कर रहे विद्वानों को इस काम के लिए भौतिक और जीव विज्ञान की तरह छानबीन के कुछ आधारभूत तौरतरीकों की दरकार नहीं होगी? या उन्हें परखने का हमारा नजरिया कुछ और नहीं होना चाहिए?

1. समाज और प्रकृति विज्ञान

जहां तक मेरी बात है, मैं खुद इस सोच को नहीं मानता। मुझे लगता है कि ऐसा करना समाज विज्ञान के लक्षणों और संभावनाओं से ज्यादा तो प्रकृति विज्ञान के लक्षणों और संभावनाओं को लेकर गलतफहमी को दर्शाता है। दोनों ही अनुशासनों में कोई 'तय' ठोस ज्ञान नहीं है, केवल कुछ परिकल्पनाएं हैं, जिन्हें कभी 'साबित' नहीं किया जा सकता, जो नाकाम होती हैं खारिज करने के लिए। ऐसी परिकल्पनाएं जिनमें हमारा डगमगाता आत्मविश्वास होता है। यह आत्मविश्वास इस बात पर निर्भर होता है कि ये परिकल्पना कितनी ज्यादा बार खारिज होने से बची हैं और वैकल्पिक परिकल्पनाओं की तुलना में कितनी कम जटिल और संभावनाओं से भरी हैं। समाज विज्ञान हो या प्रकृति विज्ञान दोनों विषयों ही में ज्ञान तभी हासिल होता है जब कोई परिकल्पना प्रयोगों की कसौटी पर खरी नहीं उतर पाती।

ऐसे में या तो उसी परिकल्पना को और बेहतर बनाने की कोशिश होती है या फिर कोई नई परिकल्पना की जाती है। यह नई परिकल्पना पिछली परिकल्पना की राह में आई बाधाओं के हल तलाशने की कोशिश करती है और बेहतरी का यह सिलसिला लगातार चलता रहता है। दोनों ही स्थितियों में कुछ ही मामलों में प्रयोग संभव होते हैं, कुछ में नहीं (मौसम विज्ञान को ही देख लें)। दोनों ही में कभी भी पूरे प्रयोग पर किसी का नियंत्रण नहीं होता, लेकिन महसूस कुछ ऐसा ही होता है मानो प्रयोग हमारे नियंत्रण में ही हो रहा है। दोनों ही में अपने आप में परिपूर्ण कोई तंत्र नहीं है और न ही पर्यवेक्षक और उसके पर्यवेक्षण को एक-दूसरे पर प्रभाव डालने से ही रोका जा सकता है। इसलिए यह काम अनवरत् और अनंत काल तक चलता ही रहता है। गणित की गोडेल थ्योरम हो या फिर भौतिक शास्त्र में हेसनबर्ग का अनिश्चितता का सिद्धांत, समाज विज्ञान की खुद पर ही निर्भर और अपने आपसे ही खारिज होने वाली भविष्यवाणियां इसी तरह के उदाहरण पेश करती हैं।

जहां तक विभिन्न विज्ञानों की बात है तो सभी का अलग-अलग विषयों से ताल्लुक है, उनके नतीजे तक पहुंचने के लिए प्रमाण (उदाहरण के लिए आत्मनिरीक्षण को प्रकृति विज्ञान की तुलना में समाज विज्ञान में ज्यादा बेहतर प्रमाण माना जाता है) अलग हैं, विश्लेषण की अलग-अलग तकनीकों को उपयोगी माना जाता है, साथ ही अध्ययन की जा रही बात को लेकर सफलता का प्रतिशत भी अलग-अलग है। ऐसे अंतर, उदाहरण के लिए भौतिक शास्त्र, जीव विज्ञान, चिकित्सा शास्त्र और मौसम विज्ञान के बीच ज्यादा हैं, बनिस्बत उनके और अर्थशास्त्र के बीच अंतर के।

यहां तक कि मूल्य आधारित फैसलों को वैज्ञानिक फैसलों से अलग करने की समस्या भी केवल समाज विज्ञान में ही नहीं है। मुझे केंब्रिज यूनिवर्सिटी कॉलेज का एक डिनर याद आ रहा है। मैं अपने एक साथी अर्थशास्त्री और सांख्यिकी अनुवांशिकी के विद्वान आर.ए. फिशर के बीच बैठा हुआ था। एक छात्र को श्रम अर्थशास्त्र (लेबर इकोनॉमिक्स) पढ़ा रहे मेरे साथी अर्थशास्त्री ने ट्रेड यूनियनों के प्रभाव के एक विश्लेषण का जिक्र करते हुए बेसाख्ता कहा, 'यह तय है कि श्रीमान

एक्स (जो एक अलग राजनीतिक विचारधारा से ताल्लुक रखने वाले अर्थशास्त्री थे) मेरी बात से सहमत नहीं होंगे।' मेरे साथी ने इस अनुभव को अर्थशास्त्र की बड़ी खामी करार दिया क्योंकि ऐसा होने के कारण एक सकारात्मक अर्थशास्त्र विज्ञान (इकोनॉमिक साइंस) संभव नहीं था। मैंने सर डोनाल्ड से जानना चाहा कि क्या ऐसा अनुभव केवल समाज विज्ञान में ही संभव है? उनका उत्तेजना भरा जवाब था, 'नहीं' और उन्होंने एक के बाद किस्से-कहानियों की झड़ी सी लगाकर यह बताना चाहा कि वह राजनीतिक विचारों से कैसे अनुवांशिकी में तर्कपूर्ण जवाब हासिल कर सकते थे। मेरे महान शिक्षकों में से एक, वेसले सी. मिशेल ने यह बात मुझे अच्छी तरह से समझा दी थी कि विद्वान क्योंकि एक लाभविहीन (वेल्यू फ्री) विज्ञान को लेकर उत्साहित होते हैं, फिर भले ही उनके जीवन मूल्य चाहें जो हों और उनमें उनको बढ़ावा देने की कितनी ही इच्छा हो। सकारात्मक वैज्ञानिक ज्ञान हमें न केवल किए जा रहे काम के परिणाम की समझ देता है बल्कि यह भी समझने में मदद करता है कि हमें ऐसा करना चाहिए या नहीं। इसी मूल मुद्दे की अनदेखी के कारण ही कई बार हमें नरक का रास्ता भी बहुत सुंदर जान पड़ता है।

अर्थशास्त्र में इस बात का खास महत्व है। दुनिया भर के कई देश इन दिनों महंगाई की समस्या से जूझ रहे हैं। बेरोजगारी चरम पर है, आर्थिक संसाधनों का दुरुपयोग हो रहा है और कुछ मामलों में तो यह इंसान की आजादी के दमन का भी कारण बन रही है। ऐसा इसलिए नहीं कि कुछ दुष्ट किस्म के लोग इसे हासिल करने के लिए काम कर रहे हैं, न ही इस वजह से कि नागरिकों के जीवन मूल्य अलग-अलग हैं, बल्कि इसलिए कि सरकारों द्वारा उठाए जा रहे कदमों के परिणामों का गलत आकलन किया जा रहा है। ऐसी गलतियां जिन्हें सकारात्मक अर्थशास्त्र विज्ञान की मदद से कम से कम सैद्धांतिक तौर पर तो सुधारा ही जा सकता है। हवा में ही तीर चलाते रहने की बजाय मैं युद्ध के बाद के काल में आर्थिक तंत्र के लिए सबसे ज्यादा चिंता का कारण बनी एक समस्या का उदाहरण लेकर ही बात करना चाहूंगा। यह समस्या है मुद्रास्फीति और बेरोजगारी की। यह एक अच्छा उदाहरण रहेगा क्योंकि यह राजनीतिक तौर पर काफी विवादित और चर्चित मामला है। और विचारों में आए आमूल-चूल परिवर्तन यहां देखने वाली बात होगी क्योंकि

परिस्थितियों के विश्लेषण में मान्य परिकल्पनाओं का वैज्ञानिक विश्लेषण भी किया गया। यानी किसी वैज्ञानिक परिकल्पना के साथ किया जाने वाला शास्त्रसंगत व्यवहार ही यहां देखने को मिला।

मैं यहां इस मामले में किए गए ढेर सारे कामों का जिक्र नहीं कर सकता और न ही उस प्रमाण का जिसके कारण परिकल्पना में बदलाव लाने पड़े। मैं तो केवल सतही बात कर पाऊंगा, जो आपको पूरे काम और उस प्रमाण की एक झलक दे सके और इस बात का संकेत भी दे कि कई बड़ी बातों पर अभी भी और काम किए जाने की जरूरत है।

मुद्रास्फीति और बेरोजगारी के बीच संबंध में, पेशेवर स्तर पर मौजूद विवाद में मौद्रिक, वित्तीय और सकल मांग को प्रभावित करने वाले तत्वों को लेकर विवाद भी शामिल हो गए हैं। एक मामला यह बताता है कि रोजगार और कीमतों के स्तर में परिवर्तन के साथ औसत अवास्तविक मांग (एग्जीगेट नॉमिनल डिमांड) किस तरह से बदलती है, फिर यह मांग कैसे भी बनी हो। दूसरा मामला उन कारकों की बात करता है जो औसत अवास्तविक मांग को प्रभावित करते हैं।

दोनों विषयों का काफी नजदीकी नाता है। औसत अवास्तविक मांग में परिवर्तन के प्रभाव, संभव है कि रोजगार और कीमतों पर असर परिवर्तन के स्रोत से स्वतंत्र न हो और इसके विपरीत औसत अवास्तविक मांग पर मौद्रिक, वित्तीय और अन्य ताकतों का प्रभाव रोजगार और कीमतों में परिवर्तन पर निर्भर हो सकता है। एक समग्र विश्लेषण में दोनों ही बातों का संयुक्त समावेश करना होगा। फिर भी इनके बीच आजादी की काफी गुंजाइश है। अगर पहली संभावना की बात की जाए तो, बेरोजगारी और कीमतों के स्तर के प्रभाव केवल औसत अवास्तविक मांग में परिवर्तन के आकार पर निर्भर हो सकते हैं। इसकी मांग के स्रोत पर नहीं। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद के दिनों की तुलना में आज दोनों ही विषयों में पेशेवर सोच बहुत अलग है। कारण साफ है कि इस दौरान कई परिकल्पनाओं पर काम के दौरान अनुभव सोच से बिलकुल ही विपरीत रहा। मेरे मुख्य शोध पर चर्चा में दोनों ही मामले मददगार साबित हो सकते हैं। मैंने इस लेख को सीमा में रखने के लिए केवल एक ही मामले का चयन किया है। यह मुद्रास्फीति और बेरोजगारी के बीच

संबंध के अध्ययन को ही चुनने का एक प्रमुख कारण है। जब मैं औसत अवास्तविक मांग पर किए गए अपने पहले के काम और मुद्रास्फीति-बेरोजगारी पर किए गए काम की तुलना करता हूं, तो पाता हूं कि मुद्रास्फीति-बेरोजगारी पर अपने काम से मैं अभी भी ज्यादा असंतुष्ट हूं।

2. पहला चरण: फिलिप्स का नकारात्मक रुझान वाला कर्व

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद मुद्रास्फीति और बेरोजगारी के बीच संबंध का पेशेवर विश्लेषण दो चरणों से गुजरने के बाद अब तीसरे चरण में प्रवेश कर रहा है।

पहले चरण में ए. डल्यू. फिलिप्स की परिकल्पना को स्वीकार किया गया था।

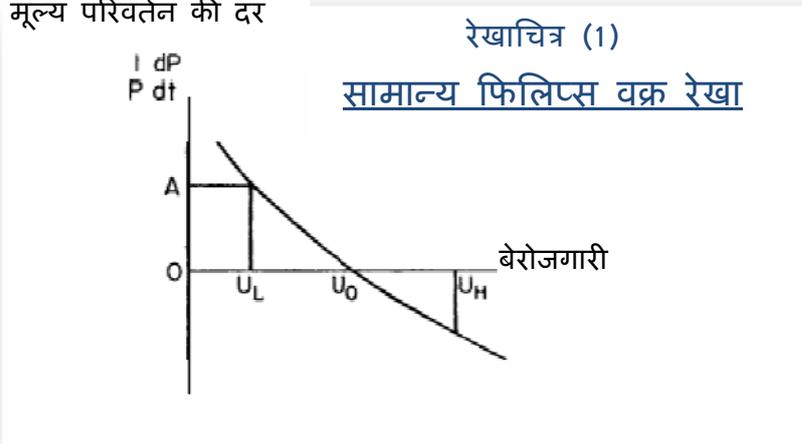
इसके मुताबिक रोजगार के स्तर और वेतन में परिवर्तन का एक

स्थायी और विपरीत संबंध था। यानी बेरोजगारी बढ़ने पर वेतनों में गिरावट देखने को मिलती और

बेरोजगारी घटने पर वेतन में बढ़ोतरी देखने को मिलती है। यहां वेतन में परिवर्तन को उत्पादन में बढ़ोतरी को साथ रखते हुए मूल्यवृद्धि से जोड़ दिया गया था। और

वेतन खर्च (वेज कॉस्ट) की अधिकता को एक औसत स्थायी समुचित कारक (कांस्टेंट मार्कअप फेक्टर) की तरह देखा गया।

मूल्य परिवर्तन की दर



रेखाचित्र-1 इस परिकल्पना का चित्रण करता है, जहां मैंने बेरोजगारी को कीमतों में परिवर्तन से सीधे जोड़कर आम परंपरा का निर्वहन किया है। यहां वेतन के जरिये बीच के चरणों की छंटनी कर दी गई है।

इस संबंध को आमतौर पर एक ऐसे निरुद्देश्य संबंध के तौर पर देखा गया जिससे नीतिनिर्धारक अपनी मनमर्जी के मुताबिक छेड़छाड़ कर सकते थे। वे बेरोजगारी के निचले स्तर U_L को चुनते तो उन्हें महंगाई दर के A होने की उम्मीद लगाना पड़ती। ऐसे में U_L को हासिल करने के लिए जरूरी औसत अवास्तविक मांग का स्तर कायम करने के लिए कदम (मौद्रिक, वित्तीय, शायद कुछ और भी) के चयन की समस्या तो बनी रहती। लेकिन अगर ऐसा किया जाता तो फिर बेरोजगारी और मुद्रास्फीति के मेल को लेकर चिंता की कोई बात ही नहीं होती। इसके अलावा नीतिनिर्धारक मुद्रास्फीति की कम दर या यहां तक की अपस्फीति (डिफ्लेशन) को भी अपना लक्ष्य बना सकते थे। ऐसे में उनको ज्यादा बेरोजगारी से ही संतोष करना पड़ता: U_0 शून्य मुद्रास्फीति के लिए, U_H अपस्फीति के लिए।

इसके बाद अर्थशास्त्रियों ने खुद को पहले रेखाचित्र में दर्शाए गए संबंधों की विभिन्न देशों, विभिन्न कालखंड के परिणामों से तुलना में व्यस्त कर लिया ताकि बाधाओं को दूर किया जा सके और वेतन में परिवर्तन और कीमतों में परिवर्तन के संबंधों को बेहतर तरीके से जाना जा सके। इसके अलावा उन्होंने मुद्रास्फीति और बेरोजगारी से समाज को होने वाले नफे-नुकसान का अलग-अलग अध्ययन किया ताकि अपनी कारोबारी नीति के सही विकल्प का मजा लिया जा सके।

बदकिस्मती से इस परिकल्पना से सहायक प्रमाणों का तारतम्य नहीं बैठ पाया। और फिलिप्स कर्व रिलेशन के प्रयोग आधारित अनुमान असंतोषजनक रहे। ज्यादा महत्वपूर्ण बात यह थी कि रोजगार के एक स्तर विशेष के साथ स्थिर दिख रही मुद्रास्फीति की दर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के काल में सभी स्तरों पर स्थिर साबित न हो सकी। उस वक्त जब सभी सरकारें 'पूर्ण रोजगार' के प्रयास कर रही थीं, कुछ देशों में तो मुद्रास्फीति की दर में वक्त के साथ तेजी से उछाल देखा गया तो अलग-अलग देशों में इसमें भारी अंतर देखा गया। दूसरी तरह से देखा जाए तो कम रोजगार के साथ जोड़कर देखी जाने वाली मुद्रास्फीति की दर वहां भी ज्यादा देखी गई जहां बेरोजगारी ज्यादा थी। इस तेजी से बढ़ती मुद्रास्फीति और उतनी ही तेजी से बढ़ती बेरोजगारी ने विशेषज्ञों ही नहीं, आम आदमी का भी ध्यान खींचा और इसे मुद्रास्फीतिजनित मंदी (स्टेगफ्लेशन) का अप्रिय नाम दे दिया गया।

हममें से कुछ विद्वान स्थिर फिलिप्स कर्व को लेकर शुरुआत से ही आशंकित थे। इसकी वजह परीक्षण या अनुभव (2,3,4) नहीं बल्कि सैद्धांतिक थी। हमारा तर्क था कि रोजगार के लिए यह बात मायने नहीं रखती थी कि वेतन डॉलर में दिया जा रहा है या पौंड या फिर क्रोनर में, बल्कि यहां महत्वपूर्ण है वेतन। उस वेतन से या तो सामान खरीदा जा सकता था और या सेवाएं हासिल की जा सकती थीं। कम रोजगार का मतलब था कि वास्तविकता में ज्यादा वेतन के लिए दबाव ऐसे में वेतन के नाममात्र होने पर भी वास्तविक वेतन ज्यादा हो सकता था, अगर कीमतें कम ही बनी हुई हों। ऐसे ही ज्यादा रोजगार का मतलब कम वेतन के लिए दबाव था, लेकिन सामान्य वेतन ज्यादा होने पर भी वास्तविक वेतन कम हो सकता है, अगर कीमतें ज्यादा हों।

बेरोजगारी को कम करने के लिए मुद्रास्फीति में तेजी की प्रवृत्ति को समझाने के लिए फिलिप्स कर्व के स्थायी होने की दरकार नहीं है। इसे औसत अवास्तविक मांग में परिवर्तन के बाजार पर प्रभाव से समझाया जा सकता है। ये प्रभाव पूंजी और श्रम के लिहाज से लंबी अवधि की वचनबद्धता (वास्तविक या अवास्तविक) से भी देखे जा सकते हैं। लंबी अवधि तक श्रम संबंधों को रोजगारदाता द्वारा श्रमिकों के बारे में और श्रमिकों द्वारा वैकल्पिक रोजगार का पता लगाने में खर्च से समझाया जा सकता है। साथ ही इसमें उस मानव पूंजी की भी बात होती है जो किसी रोजगारदाता को संभावित रोजगारदाताओं से बेहतर स्थिति में खड़ा करता है।

यहां केवल आश्चर्य में डालने वाली बातों की ही कीमत है। अगर हर व्यक्ति इस बात का अनुमान लगा लेता, उदाहरण के लिए कीमतों में हर वर्ष 20 फीसदी का इजाफा होगा तो इस जानकारी का भविष्य के वेतन (व अन्य) अनुबंधों में फायदा हो सकता था। यानी कीमतों में बढ़ोतरी न होने की स्थिति में हर कोई वास्तविक वेतन का भी सही पता लगा लेता। ऐसे में शून्य फीसदी मुद्रास्फीति और 20 फीसदी मुद्रास्फीति की स्थिति की बेरोजगारी के आकलन में कोई फर्क नहीं होता। वैसे एक अनसोचा परिवर्तन बिलकुल ही अलग बात है। खासतौर पर तब जब लंबी अवधि की वचनबद्धता और प्रभावों की अनभिज्ञता की मौजूदगी अपने प्रभाव क्षेत्र

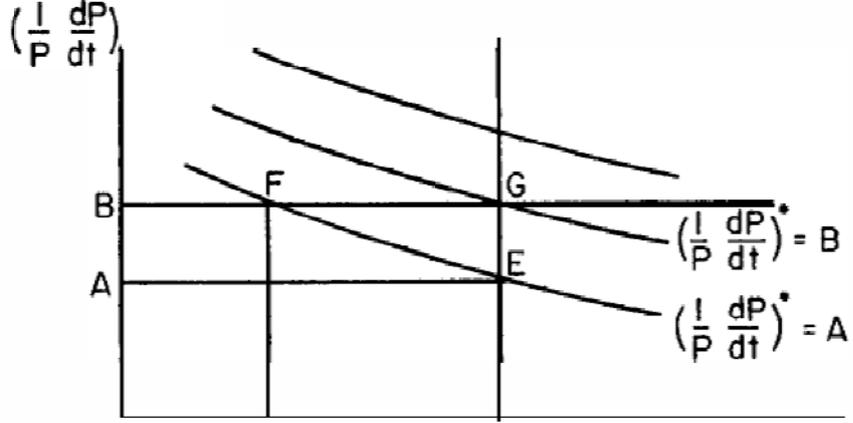
को बढ़ाती ही जा रही हो। लंबी अवधि की वचनबद्धता का मतलब है यह कि कोई क्षणिक या तात्कालिक (जल्द खराब होने वाले खाद्य पदार्थों की तरह) बाजार नहीं है, बल्कि मांग और आपूर्ति के लिहाज से कीमतों का पुनर्निर्धारण (मकानों के किराये के बाजार की तरह है) ही किया जाना है। साथ ही लंबी अवधि की वचनबद्धता इस बात पर भी निर्भर है कि जिन कीमतों की बात हो रही है, वे वर्तमान ही नहीं, भविष्य में भी कायम रहेंगी।

3. दूसरा चरण: प्राकृतिक दर की परिकल्पना

इसी सोच पर चलते हुए हमने (खासकर ई.एस. फेल्ट्स और मैं) एक ऐसी वैकल्पिक परिकल्पना तैयार की जो औसत अवास्तविक मांग में अनसोचे अल्पावधि और दीर्घावधि के परिवर्तनों में फर्क कर सके। इसके लिए एक स्थिर स्थिति से शुरुआत करो और फिर औसत अवास्तविक मांग में उदाहरण के लिए अनसोची तेजी आने दो। यह हर उत्पादक के लिए अपने उत्पाद की अनसोची ज्यादा मांग होगी। लिहाजा एक ऐसे माहौल में जहां विभिन्न वस्तुओं की मांग में हमेशा परिवर्तन होता रहता हो, उत्पादक इस बात को जान लेगा कि यह परिवर्तन उसके हित में है या उसका इससे कोई लेना-देना नहीं है। ऐसे में उसके लिए यह तर्कसंगत फैसला करना आसान होगा कि वह भविष्य में अनुमानित ज्यादा बाजार मूल्य पर बिक्री के लिए अपने सामान का ज्यादा उत्पादन करे। ऐसे में उसके लिए वास्तविक वेतन उसके उत्पाद की कीमत होगा और वह ज्यादा मूल्य का अनुमान लगा सकता है। और ऐसी स्थिति में उसके लिए ज्यादा अवास्तविक वेतन एक वास्तविक कम वेतन की तरह होगा।

लेकिन श्रमिकों की सोच इस लिहाज से अलग होती है: उनका पूरा ध्यान तो मिलने वाले वेतन से अपनी खरीदने की शक्ति पर होता है। यह खरीदने की शक्ति केवल उनके द्वारा बनाए जा रहे उत्पाद ही नहीं पर हर काम की चीज खरीदने पर लागू होती है। वे और उनके रोजगारदाता दोनों ही कीमतों की सोच और वास्तविकता में अंतर से तालमेल बैठाने के लिए कुछ वक्त ले सकते हैं। क्योंकि अपने द्वारा तैयार वस्तु की कीमत के आकलन की तुलना में उनके लिए अन्य सामानों की कीमतों को जान पाना ज्यादा खर्च का सौदा है। परिणाम यह होता है

मुद्रास्फीति की दर



रेखाचित्र (2) एक्सपेक्टेड-एडजस्टेड फिलिप्स कर्व

कि अवास्तविक वेतन में इजाफे को श्रमिक जहां वास्तविक वेतन में इजाफे की तरह देखकर ज्यादा आपूर्ति के तौर पर देखता है, उसी वक्त रोजगारदाता की सोच यह होती है कि वास्तविक वेतन कम हुआ है, इसलिए वह रोजगार के ज्यादा अवसर दे सकता है। अगर यहां भविष्य की अनुमानित कीमतों के औसत की बात की जाए तो वास्तविक वेतन कम है, जबकि भविष्य की संभावित औसत कीमत की बात की जाए तो वास्तविक वेतन ज्यादा है।

लेकिन यह स्थिति अस्थायी है। औसत अवास्तविक मांग और कीमतों में बढ़ोतरी की तेज दर कायम रहने दें और सोच काल्पनिकता से हकीकत के धरातल पर आ जाएगी। जब ऐसा होगा तो शुरुआती दौर का प्रभाव गायब हो जाएगा। हो सकता है कि कुछ वक्त के लिए यह नकारात्मक भी हो जाए और श्रमिक और रोजगारदाता दोनों को ही अपने बीच का अनुबंध बेमानी लगने लगे। अंततः रोजगार का स्तर फिर वहीं पर पहुंच जाएगा जहां पर यह औसत अवास्तविक मांग में अनुमानित तेजी से पहले था।

यह वैकल्पिक परिकल्पना दूसरे चित्र में दर्शाई गई है। हर नकारात्मक ढलानदार कर्व पहले चित्र के फिलिप्स कर्व की ही तरह है। फर्क है तो इतना कि यह एक पूर्व अनुमानित संभावित मुद्रास्फीति की दर के लिए है, जिसे कीमतों में अनुमानित

औसत परिवर्तन की दर के तौर पर परिभाषित किया गया है, न कि प्रत्येक वस्तु की कीमतों में परिवर्तन के अनुमान के औसत के लिए (दूसरी सोच के लिए कर्व का क्रम विपरीत हो जाएगा)। बिंदु E से शुरुआत करें और कारण चाहे, जो भी हो मुद्रास्फीति की दर को A से B पर जाने दें और फिर वहीं रहने दें। बेरोजगारी आरंभ में UL तक गिरेगी। बिंदु F पर वह A के मुद्रास्फीति की अनुमानित दर $((1/P \times DP/dt)$ के कर्व पर चलेगा। अनुमानों से तालमेल बिठा लेने के बाद यह छोटा सा कर्व ऊपर की ओर जाएगा। अंततः यह B की अनुमानित मुद्रास्फीति के लिए परिभाषित कर्व तक पहुंच जाएगा। इसी दौरान बेरोजगारी धीरे-धीरे F से G की ओर बढ़ेगी। (विस्तार से चर्चा के लिए देखें 5)।

वैसे यह विश्लेषण कुछ ज्यादा ही सरल हो गया है। यह केवल एक अनसोचे बदलाव की बात कर रहा है, जबकि वास्तविकता में ऐसे बदलावों की झड़ी लगी हुई है। यह न तो खामियों की बात कर रहा है और न ही अनुमानों को लेकर कुछ ज्यादा अपेक्षा की और न ही अनुमानों की प्रक्रिया की। लेकिन फिर भी यह प्रमुख बिंदुओं की बात कर रहा है: यानी जो महत्वपूर्ण है, वह मुद्रास्फीति नहीं बल्कि अनसोची मुद्रास्फीति है, यहां मुद्रास्फीति और बेरोजगारी के बीच कोई स्थायी संबंध नहीं है। बेरोजगारी की एक स्वाभाविक दर (U_N) है, जो प्रभाव डालने वाली वास्तविक शक्तियों और सही सोच के अनुरूप है। यह भी कि मुद्रास्फीति की तेज दर ही बेरोजगारी को उस स्तर से नीचे रख सकती है। उस स्तर से ऊपर जाने के लिए अपस्फीति (डिफ्लेशन) की स्थिति की दरकार होगी।

नट विकसेल के 'ब्याज की स्वाभाविक दर (नेचरल रेट ऑफ इंटरैस्ट)' की ही तर्ज पर मैंने 'बेरोजगारी की स्वाभाविक दर (नेचरल रेट ऑफ अनएम्प्लॉयमेंट)' जैसा नया शब्द गढ़ा। यह एक स्थायी आंकड़ा (न्यूमेरिकल कांस्टेंट) नहीं है बल्कि यह पूंजीगत नहीं 'वास्तविक' कारकों- श्रम बाजार की कारगरता, प्रतिस्पर्धा का स्तर या वर्चस्व, विभिन्न कामों को करने के लिए प्रोत्साहन या उसकी राह की बाधाओं आदि पर निर्भर करता है।

उदाहरण के लिए, अमेरिका में बेरोजगारी की स्वाभाविक दर साफ तौर पर दो कारणों से बढ़ती जा रही है। पहला यह कि महिलाएं, टीनएजर और पार्ट टाइम

कामगार लगातार श्रम शक्ति का एक बड़ा हिस्सा बनते जा रहे हैं। ये समूह नौकरी के लिहाज से ज्यादा गतिशील हैं, ये बहुत जल्द नौकरियां पकड़ते और छोड़ते हैं, आमतौर पर जल्द नौकरियां बदलते हैं। परिणाम यह होता है कि वे बेरोजगारी का ज्यादा सामना करते हैं। दूसरा, बेरोजगारी बीमा की अवधि और राशि को लेकर वहां रोजगार के ज्यादातर क्षेत्रों में अब ज्यादा उदारता देखने को मिल रही है। इस वजह से नौकरी गंवाने वाले पर नई नौकरी जल्द तलाशने का दबाव कम होता है। ऐसे में वह पहले के ही रोजगारदाता से फिर बुलावे या बेहतर नौकरी की तलाश के लिए ज्यादा वक्त तक इंतजार कर सकता है। साथ ही इस क्षेत्र में बीमे ने तो लोगों को इससे जुड़ने के लिए और अधिक प्रोत्साहित कर दिया है। यह भी बढ़ती आबादी और उसकी बनावट में परिवर्तन के साथ श्रम शक्ति के इजाफे की एक बड़ी वजह हो सकती है।

हमें बेरोजगारी की स्वाभाविक दर के निर्धारण के लिए अमेरिका ही नहीं अन्य देशों का भी ज्यादा विस्तृत विश्लेषण करना पड़ेगा। बेरोजगारी के उपलब्ध आंकड़ों और दर्ज आंकड़ों और स्वाभाविक दर के संबंध को जानने के लिए भी ऐसा ही करना पड़ेगा। सार्वजनिक नीति निर्धारण ये सबसे महत्वपूर्ण विषय हैं। लेकिन मेरे वर्तमान सीमित उद्देश्य के लिए वे अतिरिक्त विषय हैं।

रोजगार की स्थिति और किसी अर्थव्यवस्था की कार्यक्षमता और उत्पादकता के स्तर में संबंध भी नीति निर्धारण के लिए एक आधारभूत विषय है, लेकिन यह भी मेरे उद्देश्य के लिहाज से मुख्य विषय नहीं है। यह एक सामान्य रूप से स्वीकृत सोच है कि संसाधनों का उचित इस्तेमाल नहीं किए जाने से बेरोजगारी बढ़ती है और उचित इस्तेमाल होने पर घटती है। यह सोच दोषपूर्ण है। कम बेरोजगारी एक ऐसी जबरन लागू अर्थव्यवस्था का संकेत हो सकती है जो अपने संसाधनों का उचित इस्तेमाल नहीं कर पा रही हो। जिसमें कर्मचारियों को उनकी पसंद के काम की बनिस्बत ऐसे काम के लिए प्रोत्साहित किया जाता है जो उन्हें इस खुशफहमी में रखता है कि उनका वास्तविक वेतन उनके अनुमानों से ज्यादा होगा। या बेरोजगारी की कम स्वाभाविक दर ऐसे संस्थागत व्यवस्था की ओर संकेत करती हो जिसमें परिवर्तन की गुंजाइश न हो। एक बेहद स्थिर और अड़ियल किस्म की

अर्थव्यवस्था में हो सकता है कि हर एक के लिए रोजगार उपलब्ध हो, लेकिन जहां तक तेज गति की प्रगतिशील अर्थव्यवस्था का सवाल है, जिसमें हर वक्त नए मौके उपलब्ध हों और लचीलापन भी हो तो वहां बेरोजगारी की स्वाभाविक दर ज्यादा ही रहने की संभावना है। एक ही दर अलग-अलग देशों में किस तरह का प्रभाव डालती है इसे जानने के लिए बताने के लिए उदाहरण पेश है। मान लीजिए कि जापान और यूनाइटेड किंगडम में 1950 से 1970 तक बेरोजगारी की दर कम थी, लेकिन इस दौरान जहां जापान ने जोरदार तरक्की की, यूके में अपस्फीति की स्थिति रही।

'स्वाभाविक दर' या 'गतिशील' या 'उम्मीद से तालमेल बिठाने वाला फिलिप्स कर्व' की परिकल्पना को भले ही पूरी दुनिया में न माना जाता हो, लेकिन अर्थशास्त्रियों का एक बड़ा तबका, छोटे-मोटे परिवर्तनों के बाद, इनमें विश्वास करने लगा है। कुछ अब भी फिलिप्स के मूल कर्व से ही चिपके बैठे हैं। अब कुछ ज्यादा लोग न केवल छोटे और लंबे अवधि के कर्व का अंतर समझने लगे हैं बल्कि कुछ तो लंबे कर्व को भी नकारात्मक ही मानते हैं, हां छोटे कर्व से कुछ कम। कुछ मुद्रास्फीति में तेजी और बेरोजगारी के स्थायी नाते की बनिस्बत मुद्रास्फीति और बेरोजगारी के नाते को ध्यान देने के काबिल मानते हैं। उन्हें यह तो पता होता है कि उनके द्वारा हासिल निष्कर्ष बदल सकता है, लेकिन यह बात उन्हें चिंता में नहीं डालती।

आज अधिकतर आर्थिक शोध इस दूसरे चरण के विभिन्न पहलुओं को ही समर्पित होता है। ये पहलू प्रक्रिया की गतिशीलता, अनुमानों का निर्धारण, एक सुसंगत नीति (अगर कोई है तो) और उसके वास्तविकता दर्शाने वाले अनुमानित प्रभाव हो सकते हैं। हम इन मुद्दों पर तेज प्रगति की उम्मीद लगा सकते हैं (यहां जॉन मूथ, रॉबर्ट लूकास और थॉमस सार्जेंट की भागीदारी के विशेष उल्लेख के साथ 'तार्किक उम्मीद (रेशनल एक्सपेक्टेशन)' पर किए जा रहे काम का जिक्र जरूरी है) (गॉर्डन9)।

4. तीसरा चरण: एक सकारात्मक ढलान वाला फिलिप्स कर्व?

हालांकि दूसरे चरण का अभी पूरा विश्लेषण नहीं हो सका है, न ही इस बारे में उपलब्ध साहित्य को ही खंगाला गया है, लेकिन जो कुछ हो रहा है वह तीसरे चरण का संकेत है। हाल के वर्षों में मुद्रास्फीति की ज्यादा दर के साथ कम नहीं ज्यादा

बेरोजगारी देखने को मिल रही है। खासतौर पर कुछ लंबी अवधि के लिए। इसे फिलिप्स कर्व पर सामान्यतया एक सकारात्मक ढलान वाले कर्व से ही दिखाया जा सकेगा, न कि खड़े कर्व से। तीसरा चरण इसी अनुभव (एम्पिरिकल) आधारित घटना को समझने का प्रयास होगा। ऐसा करने के लिए मेरी राय में मुझे इसमें आर्थिक अनुभव और राजनीतिक घटनाक्रमों की एक-दूसरे पर निर्भरता के विश्लेषण को भी शामिल करना पड़ेगा। इसमें कुछ राजनीतिक घटनाओं को एक अलग कारक के तौर पर नहीं जैसा कि अर्थशास्त्र में बाहरी प्रभावशील कारकों को लेकर होता है बल्कि एक आर्थिक घटनाक्रम के ही तौर पर प्रभाव डालने वाले एक भीतरी कारक की तरह (गॉर्डन8)। दूसरा चरण पिछले दो दशक के आर्थिक सिद्धांतों की दो प्रमुख देन से प्रभावित था। एक, आधी-अधूरी जानकारी और जानकारी हासिल करने की कीमत का विश्लेषण, जिस पर जॉर्ज स्टिगलर ने प्रमुखता से काम किया था। दूसरा श्रम अनुबंधों के निर्धारण में मानव पूंजी की भूमिका, जिसके अध्ययन का आधार गैरी बेकर ने तैयार किया था। मेरी राय में तीसरे चरण पर राजनीतिक व्यवहार में आर्थिक सोच के इस्तेमाल का जोरदार प्रभाव होगा। इस क्षेत्र में स्टिगलर और बेकर के शुरुआती काम के बाद केनेथ एरो, डंकन लेक, एंथनी डाउन्स, जेम्स बूचानन, गॉर्डन टूलक और अन्य ने भी काम किया है।

सरकार के नीति निर्धारकों के लिए मुद्रास्फीति और बेरोजगारी के बीच के सकारात्मक संबंध को लेकर काफी चिंता रहती है। ग्रेट ब्रिटेन के प्रधानमंत्री रहे केलेगन ने कहा था, 'हमारा विचार था कि सरकारी खर्च को बढ़ा कर, करों में कटौती से मंदी से उबर जाएंगे और ज्यादा रोजगार दे सकेंगे। मैं आपको स्पष्ट तौर पर बताना चाहूंगा कि वह विकल्प अब मौजूद नहीं है। यहां तक कि जब तक वह था इसने हमें और मंदी की ओर ही धकेला। जिसके बाद भारी बेरोजगारी मुंह बाएं खड़ी थी। यह पिछले बीस साल की कहानी है।' (28 सितंबर, 1976 को लेबर पार्टी कांफ्रेंस के भाषण से)।

यही विचार कनाडा सरकार के श्वेत पत्र में भी व्यक्त किए गए हैं, 'निरंतर मुद्रास्फीति, खासतौर पर उत्तरी अमेरिका में, के साथ हमने बेरोजगारी में इजाफा

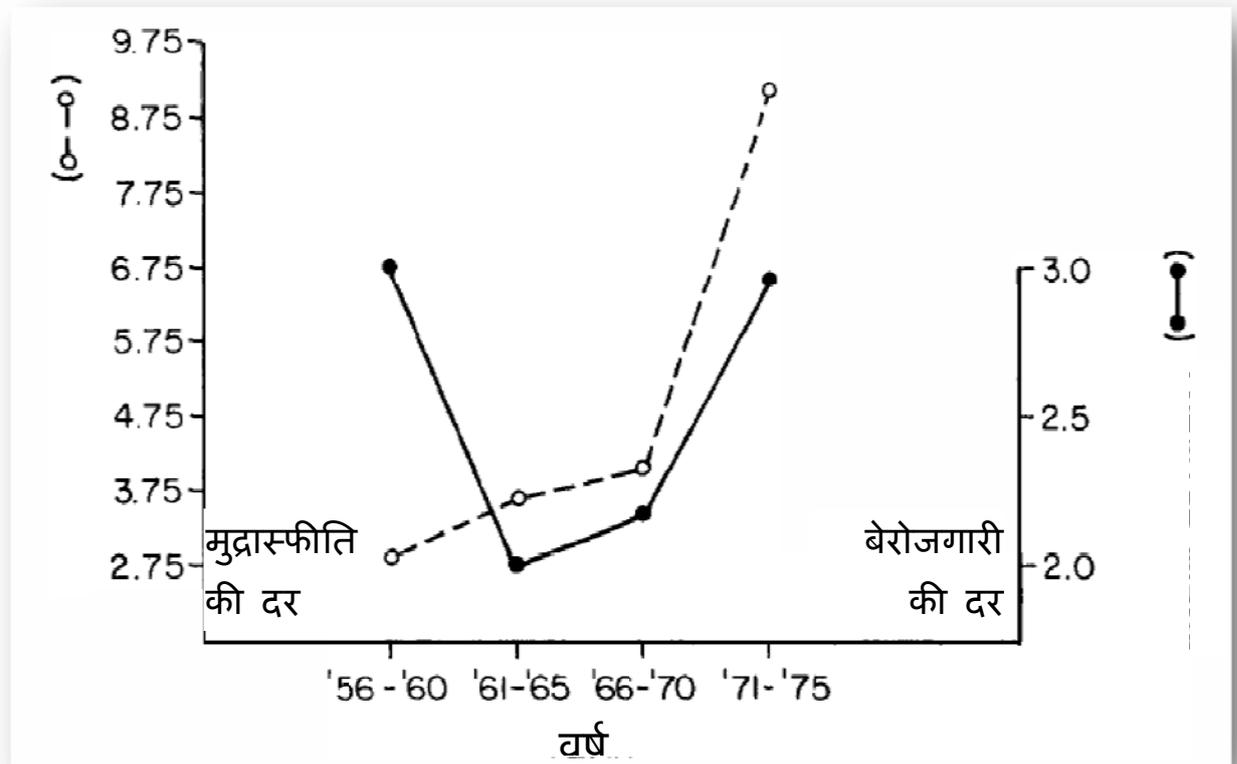
देखा है।' ('द वे अहेड: ए फ्रेमवर्क ऑफ डिस्कशन' गवर्नमेट ऑफ कनाडा वर्किंग पेपर, अक्टूबर 1976)।

यह काफी उल्लेखनीय वक्तव्य हैं, क्योंकि वे विश्वयुद्ध के बाद पश्चिम की हर सरकार द्वारा अपनाई गई नीतियों की कलई खोल देते हैं।

अ. कुछ प्रमाण

पिछले दो दशक को लेकर व्यवस्थित प्रमाण टेबल-1 और रेखाचित्र-3 और रेखाचित्र-3 में दिए गए हैं। इनमें पिछले दो दशक में सात औद्योगिक देशों में

रेखाचित्र (3) पंचवार्षिकी आधार पर 1956 से 1975 के बीच बेरोजगारी और मुद्रास्फीति की दरें, सात देशों के लिए अनवैटेड एवरेज



मुद्रास्फीति की दर और बेरोजगारी को दर्शाया गया है। पहले टेबल में दिए गए पांच साल के औसत के मुताबिक सात में से पांच देशों में पहली दो पंचवार्षिकियों में मुद्रास्फीति की दर और बेरोजगारी के स्तर विपरीत दिशा में चले, जैसा कि फिलिप्स का सामान्य कर्ब भी दर्शाता है।

टेबल (1)

1956 से 1975 के बीच सात देशों में मुद्रास्फीति और बेरोजगारी.

उत्तरोत्तर पंचवार्षिकी के लिए औसत मान

DP = मूल्य परिवर्तन की दर, U = बेरोजगारी, कामगारों का प्रतिशत

7 देशों का
अनवेटेड

	फ्रांस	जर्मनी	इटली	जापान	स्वीडन	ब्रिटेन	अमेरिका	एवरेज								
	DP	U	DP	U	DP	U	DP	U								
1956 से																
1960	5.6	1.1	1.8	2.9	1.9	6.7	1.9	1.4	3.7	1.9	2.6	1.5	2.0	5.2	2.8	3.0
1961 से																
1965	3.7	1.2	2.8	0.7	4.9	3.1	6.2	0.9	3.6	1.2	3.5	1.6	1.3	5.5	3.7	2.0
1966 से																
1970	4.4	1.7	2.4	1.2	3.0	3.5	5.4	1.1	4.6	1.6	4.6	2.1	4.2	3.9	4.1	2.2
1971 से																
1975	8.8	2.5	6.1	2.1	11.3	3.3	11.4	1.4	7.9	1.8	13.0	3.2	6.7	6.1	9.3	2.9

नोट: DP उपभोक्ता कीमतों में आए परिवर्तन की वह है जो कैलेंडर वर्ष 1955 से 1960, 1960 से 1965, 1965 से 1970, 1970 से 1975 के बीच सालाना आधार पर जोड़ी गई है और U दर्शाए गए पांच कैलेंडर वर्षों के दौरान औसत बेरोजगारी दर है। नतीजतन, DP अपने से संबंधित U से छह माह पहले की तारीख का है।

सात में से केवल चार देशों में दूसरी व तीसरी पंचवार्षिकियों (1961-65 और 1966-70) और अंतिम दो पंचवार्षिकियों (1966-70 और 1970-75) में तो सात में से केवल एक ही देश में ऐसा हुआ। और इकलौता अपवाद इटली भी वास्तविकता में अपवाद नहीं था। यह सच है कि पहले के पांच सालों की तुलना में 1971 से 1975 के दौरान मुद्रास्फीति की दर गिरने के बाद भी बेरोजगारी की दर कुछ कम थी। लेकिन, 1973 के बाद तो मुद्रास्फीति और बेरोजगारी दोनों में ही तेजी देखी गई।

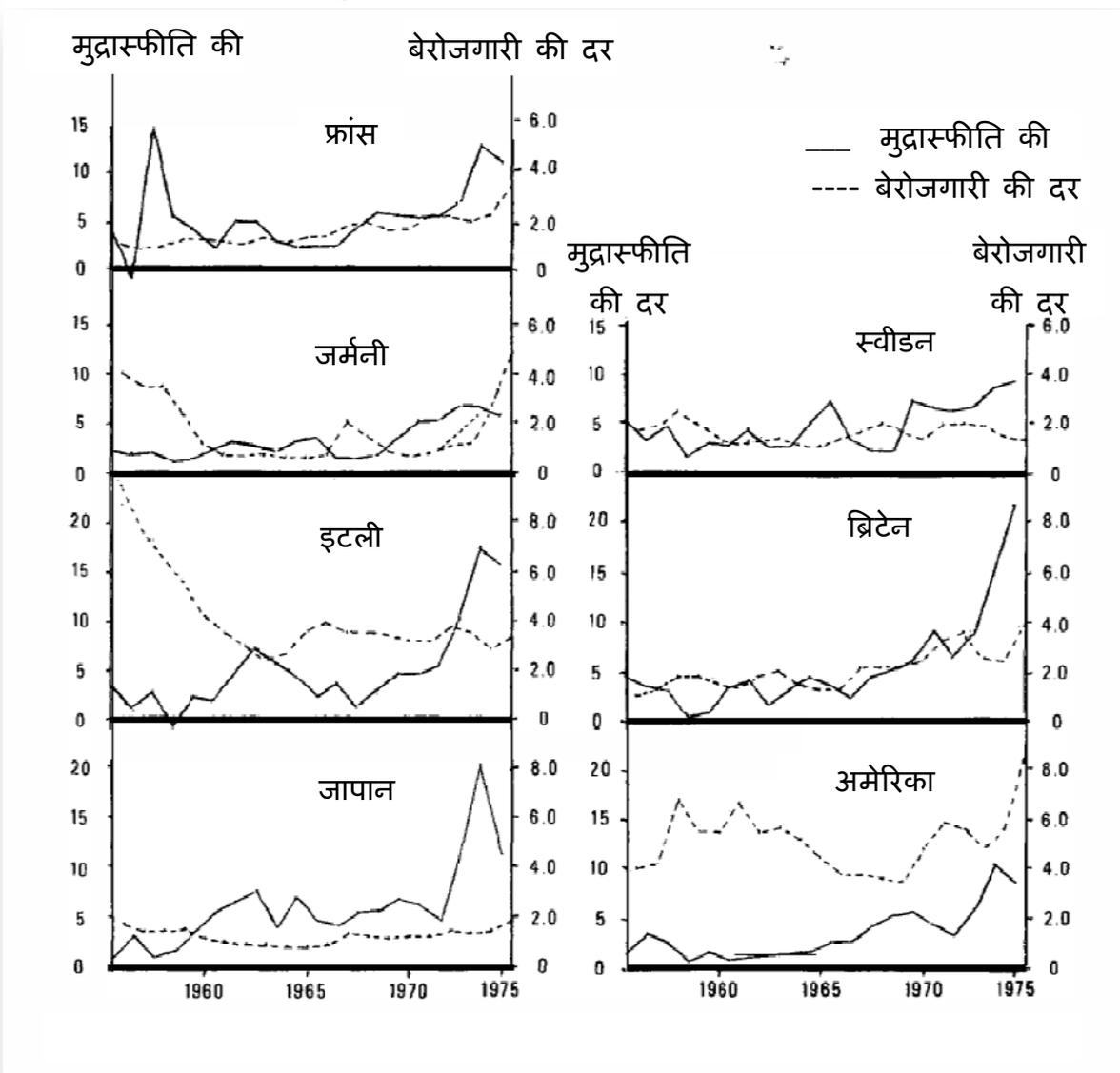
तीसरे चित्र में दिखाए गए सभी सात देशों का औसत तो फिलिप्स के नकारात्मक ढलान वाले सामान्य कर्व से सकारात्मक ढलान वाले कर्व की ओर जाने को और साफ तौर से दिखाता है। पहली दो पंचवार्षिकियों में विपरीत दिशा में जाने के बाद दोनों ही कर्व एक ही दिशा में जाने लगते हैं।

फिगर चार में दिखाए गए वार्षिक आंकड़े ऐसी ही मगर कुछ भ्रमित करने वाली बात बताते हैं। शुरूआती वर्षों में कीमतों और बेरोजगारी के बीच संबंधों में काफी फर्क था। कहीं भी यह बिल्कुल नहीं (जैसा कि इटली में) था तो अमेरिका और ब्रिटेन में साल-दर-साल नकारात्मक संबंध। हाल के वर्ष में हालांकि फ्रांस, अमेरिका, ब्रिटेन, जर्मनी और जापान सभी ने मुद्रास्फीति और बेरोजगारी दोनों ही में इजाफा दर्ज किया है। हालांकि जापान में मुद्रास्फीति के लिहाज से बेरोजगारी तुलनात्मक तौर पर कम है। इससे यह जाहिर होता है कि जापान में विभिन्न संस्थानों के कामकाजी माहौल में बेरोजगारी के मायने भी अलग हैं। केवल स्वीडन और इटली ही एक सामान्य पैटर्न से अलग हैं।

निश्चित तौर पर ये आंकड़े केवल संकेतक हैं। हमारे पास सभी सात देशों के ऐसे आंकड़े नहीं हैं जो एक-दूसरे देश के प्रभाव से आजाद हों। आम अंतरराष्ट्रीय समस्याओं का असर सभी देशों पर पड़ता है. सो देशों की संख्या में इजाफे का मतलब वृद्धि को विश्लेषण के लिए उपलब्ध प्रमाणों में इजाफे के तौर पर नहीं देखा जा सकता। उदाहरण के लिए जब तेल की कमी की समस्या आई तो उसका प्रभाव यहां चर्चित सभी सात देशों पर एक ही वक्त पड़ा। मुद्रास्फीति पर उस समस्या का चाहे जो असर रहा हो, लेकिन इसने उत्पादन को प्रभावित किया जिसका असर

रोजगार पर भी पड़ा। बेरोजगारी में ऐसे इजाफे को सीधे तौर पर मुद्रास्फीति से नहीं जोड़ा जा सकता। हां दोनों को तीसरे प्रभाव के लिए आंशिक तौर पर जिम्मेदार माना जा सकता है।(गॉर्डन 7)

रेखाचित्र (4) 1956 से 1975 के बीच सात देशों में सालाना मुद्रास्फीति और बेरोजगारी की दर



पंचवार्षिक और वार्षिक आंकड़े बताते हैं कि तेल की कमी से उपजी समस्या उस घटनाक्रम को पूरी तरह से नहीं समझा सकती जिसे केलेगन ने 1973 में तेल की कीमतों में चौगुना बढ़ोतरी से पहले ग्राफिक्स के साथ समझाया था। सभी देशों ने मुद्रास्फीति में इजाफे को बेरोजगारी में इजाफे के संबंध को दर्शाया था। लेकिन यहां पर भी मुद्रास्फीति के बेरोजगारी पर असर के लिए कुछ स्वतंत्र कारकों की ओर इशारा देखने को मिल सकता है। उदाहरण के लिए, जो ताकतें अमेरिका में बेरोजगारी की स्वाभाविक दर को बढ़ा रही थीं, हो सकता है वे दूसरे देशों में भी प्रभावी हों और वहां पर मुद्रास्फीति से बिना किसी संबंध के बढ़ती बेरोजगारी के लिए जिम्मेदार हों।

इतना कुछ बताने के बाद ये आंकड़े, कम से कम ब्रिटेन, कनाडा और इटली जैसे कुछ देशों में, बढ़ती मुद्रास्फीति और बढ़ती बेरोजगारी के एकदूसरे पर प्रभाव को दर्शाते हैं। अलग-अलग कारकों के अलग प्रभावों की बनिस्बत। आंकड़े इस बात को भी साबित ही करते हैं कि सभी औद्योगिक देशों में मुद्रास्फीति की ऊंची दर का, कुछ समय के लिए ही सही, कुछ ऐसा प्रभाव पड़ता है, जिससे बेरोजगारी बढ़ती है। इसके बाद आलेख के शेष भाग में इन चंद्र प्रभावों की खोज को ही प्राथमिकता दी गई है।

ब. प्रयोगात्मक परिकल्पना (टेंटेटिव हाइपोथिसिस)

मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूँ कि मुद्रास्फीति और बेरोजगारी के बीच सकारात्मक संबंध के लिए प्राकृतिक दर परिकल्पना (नेचुरल रेट हाइपोथिसिस) के औसत विस्तार की दरकार है। हालांकि ऐसे सकारात्मक संबंध के लिए भी अन्य कारण जिम्मेदार हो सकते हैं। ठीक उसी तरह जैसे प्राकृतिक दर परिकल्पना अल्पावधि के नकारात्मक ढलान वाले फिलिप्स कर्व को एक अस्थायी घटना के तौर पर बताती है, जो आर्थिक कारक अपने अनुमानों को हकीकत के आइने में देखने पर नदारद हो जाती है। इसलिए एक सकारात्मक ढलान वाला फिलिप्स कर्व कुछ ज्यादा वत तक देखने को मिल सकता है, जिस दरमियान आर्थिक कारक न केवल अनुमानों बल्कि संस्थागत और राजनीतिक प्रभावों के साथ भी तालमेल बिठा रहे हों। जब

ऐसा होता है, तो मेरी राय में, ठीक प्राकृतिक दर परिकल्पना से मिले संकेतों की तरह, बेरोजगारी की दर काफी हद तक मुद्रास्फीति की औसत दर के प्रभाव से आजाद होगी। हालांकि यही बात संसाधनों के इस्तेमाल की कार्यकुशलता के संदर्भ में नहीं कही जा सकती। मुद्रास्फीति की ऊंची दर का मतलब ज्यादा या कम बेरोजगारी दर होना जरूरी नहीं। हालांकि इसके साथ इतिहास की किसी विरासत की तरह मौजूद संस्थागत और राजनीतिक व्यवस्था या खुद मुद्रास्फीति ही इस्तेमाल किए जा रहे संसाधनों के सर्वश्रेष्ठ उपयोग की राह का रोड़ा साबित हो सकती है। यह एक ऐसा विशेष मामला है जो रोजगार की स्थिति और अर्थव्यवस्था की उत्पादकता के अंतर को दर्शाता है।

मेरी राय में मुद्रास्फीति की नियमित ऊंची दर से तालमेल बिठा चुके कई लेटिन अमेरिकी देशों का अनुभव, जिसका मेरे कुछ साथियों, खासतौर पर अर्नोल्ड हारबर्गर और लैरी जास्ताद (12) (17) ने अच्छी तरह से विश्लेषण किया है, ऊपर वर्णित सोच से मेल खाता है। प्राकृतिक दर परिकल्पना के चित्र क्रमांक-2 में प्रदर्शित संक्षिप्त रूप में वर्टिकल कर्व मुद्रास्फीति की पहले से ही अनुमानित वैकल्पिक दरों को दिखाता है। दर चाहे जो हो सकारात्मक या नकारात्मक या शून्य, अगर इसका पहले से ही अनुमान लगा लिया गया हो तो इसे हर फैसले की प्रक्रिया में शामिल किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, 20 फीसदी प्रति वर्ष की अनुमानित मुद्रास्फीति में लंबी दर के वेतन अनुबंध में वेतनमान ऐसा होगा जो मुद्रास्फीति की शून्य दर के वेतन की तुलना में प्रति वर्ष 20 फीसदी बढ़ेगा। लंबी अवधि के कर्ज में याज की दर शून्य मुद्रास्फीति की ब्याज दर से 20 फीसदी अंक ज्यादा होगी या फिर मूलधन ऐसा होगा जिसे हर वर्ष 20 फीसदी बढ़ाया जा सके। संक्षेप में सभी अनुबंधों में इसे संकेतक या मार्गदर्शक की तरह इस्तेमाल किया जा सकता है। मुद्रास्फीति की ज्यादा दर का प्रभाव वास्तविक होगा। उदाहरण के लिए ऐच्छिक शेष नकदी (डिजायर्ड कैश बैलेंसेज) में परिवर्तन संभावित है। इसका श्रम बाजार की कार्यकुशलता पर प्रभाव पड़ना जरूरी नहीं। श्रम अनुबंधों की अवधि और शर्तें भी इससे अछूती रह सकती हैं। ऐसे में जरूरी नहीं कि इसका प्रभाव बेरोजगारी की प्राकृतिक दर पर पड़े।

यह विश्लेषण इस बात को लेकर आश्चर्य दिखता है, पहला मुद्रास्फीति स्थिर है या फिर उसका कम दर की तुलना में ऊंची दर होने पर प्रभाव भी कम हो जाता है, वरना मुद्रास्फीति की कम दर की तुलना में ज्यादा दर पर इसका सटीक अनुमान असंभव होता। दूसरा, कीमतें चाहे जो हों मुद्रास्फीति की दर में इजाफा इससे आजाद होता है या हो सकता है। यही वजह है कि मुद्रास्फीति की दर 20 फीसदी हो या फिर शून्य, कीमतों में तुलनात्मक समायोजन समान होता है। तीसरा, जो दूसरे ही बिंदू का सहायक है, अनुबंधों के निर्धारण में यह कोई बाधा नहीं है। अंत में, अगर मुद्रास्फीति कई दशक तक औसतन 20 फीसदी प्रति वर्ष रहने की संभावना हो तो, इनमें से अधिकांश बातें खरी साबित होंगी। यही वजह है कि मैं फिलिप्स के लंबे तक चलने वाले कर्व (लांग-लांग रन कर्व) को ही कायम रखने के पक्ष में हूँ। लेकिन, जब कोई देश मुद्रास्फीति की ऊंची दर की आरंभिक अवस्था में हो तो इन बातों से चरणबद्ध तरीकों से दूर रखा जाएगा। और ऐसा भी कई दशकों तक संभव है।

अमेरिका और यूनाइटेड किंगडम का उदाहरण ही देख लीजिए। द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले के दो सदी पहले तक यूनाइटेड किंगडम और आधा सदी पहले तक अमेरिका कीमतों में एक तय इजाफा दिखता था, जो युद्ध के समय और तेज हो जाता था और युद्ध खत्म होते ही युद्ध के पहले के स्तर पर पहुंच जाता था। ऐसे में कीमतों का एक 'सामान्य' स्तर न केवल दोनों देशों के वित्तीय और अन्य संस्थानों बल्कि जनमानस की आदतों और व्यवहार से भी सामंजस्य बिठा चुका था।

दूसरे विश्वयुद्ध के तत्काल बाद पहले के ही अनुभव को फिर से दोहराए जाने की सभी को आशंका थी। युद्ध के समय की मुद्रास्फीति पर युद्ध के बाद की मुद्रास्फीति का असर हकीकत थी, लेकिन अमेरिका और यूनाइटेड किंगडम में अपस्फीति या मुद्रा संकुचन (डिफ्लेशन) की उम्मीद लगाई जा रही थी। युद्ध के बाद की मुद्रास्फीति के डर को कम होने में काफी वक्त लगा। वक्त गुजरा और मौद्रिक प्रणाली (मॉनिटरी सिस्टम) में आए इस आधारभूत परिणाम को स्वीकार लिया गया। यह बात और है कि उससे सामंजस्य का काम अभी भी पूरा नहीं हुआ है (क्लिन 16)।

हकीकत तो यह है कि हम नहीं जानते कि पूरी तरह से सामंजस्य का मतलब क्या है। हम नहीं जान सकते कि क्या औद्योगिक देश, द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले की लंबी अवधि तक कीमतों के स्थिर रहने के काल में लौटेंगे या फिर लेटिन अमेरिकी देशों की तरह (चिली और अर्जेंटीना का हारबर्गर (11) एकाएक आने-जाने वाले सुपर या हाई इन्फ्लेशन) निरंतर बढ़ती मुद्रास्फीति से उत्पन्न परिस्थितियों की ओर जाएंगे। या फिर आमूल-चूल आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन के साथ आज की जैसी परिस्थिति की ओर जिसमें सभी कारकों का प्रभाव बहुत जटिल और उलझा देने वाला है।

यह असमंजस या ज्यादा सही कहें तो असमंजस पैदा करने वाली यह परिस्थितियां हमें एक वर्टिकल फिलिप्स कर्व के लिए जरूरी परिस्थितियों से दूर ले जाती हैं। सबसे बड़ा आधारभूत परिवर्तन तो यह है कि मुद्रास्फीति की यह ऊंची दर, बीच के परिवर्तन के दशकों में स्थिर नहीं होगी। उल्टा होगा यह कि मुद्रास्फीति की दर जितनी ऊंची होगी परिवर्तन होने की आशंका भी उतनी ही ज्यादा होगी। पिछले कुछ दशकों से विभिन्न देशों में किए गए परीक्षणों (जेफ और क्लीमैन¹⁴, लॉग और विलेट¹⁷) से यह बात साबित हो चुकी है। यह वास्तविक मुद्रास्फीति और उससे भी अधिक आर्थिक कारकों के अनुमानों के मामले में सैद्धांतिक तौर पर भी सही दिखाई देता है। सरकारों ने मुद्रास्फीति की ऊंची दर किसी तय नीति के तहत हासिल नहीं की है, बल्कि उनकी अन्य नीतियों के कारण ऐसा हुआ है। खासतौर पर पूर्ण रोजगार और सरकारी कल्याणकारी योजनाओं में खर्च में इजाफे के कारण ऐसा हुआ है। ये सभी कीमतों को स्थिर रखने का दावा भी करते हैं। दरअसल आम आदमी मुद्रास्फीति की चिंता की बनिस्बत एक तयशुदा रकम को लेकर ज्यादा उत्साहित होता है। मुद्रास्फीति की दर में जरा सा उछाल सरकार के तमाम दावों की कलाई खोलकर रख देता है। नीतियां भी दिशा बदलती रहती हैं जिससे मुद्रास्फीति की वास्तविक और अनुमानित दर में भी भारी बदलाव आता रहता है। और निश्चित तौर पर ऐसे माहौल में, मुद्रास्फीति की दर दहाई के भीतर रहने की उम्मीद नहीं की जा सकती। हर एक इस बात को समझता है कि भविष्य में किसी भी तय अंतराल के बाद मुद्रास्फीति की दर का आंकलन मुश्किल ही है (जेफ और

क्लीमैन14, मेसलमैन20)। औसतन ज्यादा परिवर्तनशील रहने वाली मुद्रास्फीति के रुझान पर देश के राजनीतिक तानेबाने का भी असर होता है। खासतौर पर ऐसे देश में जहां संस्थागत व्यवस्थाएं और आर्थिक अनुबंध लंबे समय तक स्थिर रहने वाली सामान्य कीमतों के आधार पर किए गए हों। कुछ को फायदा (उदाहरण के लिए, मकान मालिक) होता है, कुछ को नुकसान (बचत खातों और स्थिर ब्याज वाली सिक्क्योरिटी रखने वालों को)। दूरदर्शी व्यवहार अदूरदर्शी हो जाता है और अदूरदर्शी व्यवहार दूरदर्शी। समाज का बंटवारा हो जाता है और एक धड़ा दूसरे के खिलाफ हो जाता है। राजनीतिक अशांति बढ़ जाती है। परिस्थिति से निपटने की किसी भी सरकार की क्षमता, ठोस कदम उठाने की बढ़ती मांग के साथ, कमजोर होती जाती है। वास्तविक और अनुमानित मुद्रास्फीति का बेरोजगारी की दर पर दो अलग तरह से प्रभाव पड़ सकता है।

पहला, बढ़ती अनिश्चितता के कारण अस्थायी वायदों (अनइंडेक्स्ड कमिटमेंट्स) की अधिकतम अवधि कम हो जाती है और तय वायदे (इंडेक्सिंग) ज्यादा फायदेमंद माने जाते हैं (ग्रे10)। वास्तविकता में ऐसा होने में कुछ वक्त लगता है। इस दौरान पहले की व्यवस्थाएं एक जड़ता सी लाती हैं, जिसका असर बाजार की प्रभावशीलता पर पड़ता है। बाजार की अस्थिरता के कारणों में यह एक और कारण जुड़ जाता है। साथ ही कीमतों का निर्धारण मुद्रास्फीति को स्थिर रखने का दोषपूर्ण विकल्प ही है। कीमतों का निर्धारण (प्राइस इंडेक्सिंग) दोषपूर्ण हैं जो बाजार को धीमा करता है और इसका इस्तेमाल अनुबंध की शर्तों को पीछे की ओर ले जाने के लिए ही किया जाता है।

ऐसी घटनाएं अर्थव्यवस्था के प्रभाव को कमजोर करती हैं। वैसे ज्ञात बेरोजगार पर इसका असर साफ नहीं है। बढ़ी हुई अस्थिरता और अनिश्चितता से निपटने के लिए सभी किस्म की ऊंचे औसत वाली माल सूची (हाई एवरेज इन्वेन्ट्री) एक रास्ता है। लेकिन इसका मतलब कंपनियों द्वारा श्रम शक्ति की जत्थेबंदी (लेबर होर्डिंग) के कारण कम रोजगार या ज्यादा श्रमिकों की मौजूदगी में रोजगार के कम अवसरों के कारण ज्यादा बेरोजगारी हो सकता है। कम अवधि के अनुबंधों का मतलब रोजगार के साथ बदलती परिस्थितियों में ज्यादा तेजी से तालमेल बिठाना हो सकता है जो

रोजगार की दर को कम कर सकता है। या फिर परिस्थितियों से तालमेल बिठा पाने में देरी के कारण बढ़ता असंतोष बेरोजगारी की ज्यादा दर का कारण बन सकता है। निश्चित ही विभिन्न परिस्थितियों के प्रभावों को साफ तौर पर समझने के लिए इस क्षेत्र में और अधिक शोध की जरूरत है। अभी तो इतना ही कहा जा सकता है कि परिस्थितियों से तालमेल का न बिठा पाना और अनुबंध मूल्यों का निर्धारण दोषपूर्ण होना ही बेरोजगारी में दर्ज इजाफे के लिए जिम्मेदार है। इन सभी के बारे में बस इतना कहा जा सकता है कि वायदों से धीमी गति का तालमेल और इंडेक्सिंग के दोष बेरोजगारी में इजाफे का एक कारण होते हैं।

मुद्रास्फीति की बढ़ी हुई अनिश्चितता (वॉलेटिलिटी) बाजार की कीमतों से जुड़ी आर्थिक गतिविधियों के लिए एक कम प्रभावी तंत्र तैयार कर देती हैं। जैसा कि हायेक (13) ने बड़े अच्छे तरीके से समझाया है, कीमतों के तंत्र का एक आधारभूत काम आर्थिक कारकों को यह सूचना सस्ते में देना है कि उन्हें किस चीज का और किस तरह उत्पादन करना है। या फिर अपने संसाधनों का किस तरह से इस्तेमाल किया जाए। यह उपयोगी जानकारी तुलनात्मक कीमतों के संबंध में होती है। एक उत्पाद की दूसरे समकक्ष उत्पाद से, उत्पादन के एक कारक की दूसरे कारक से तुलना। कारक सेवाओं (फैक्टर सर्विसेज़) से उत्पाद की और आज की कीमतों की भविष्य की कीमतों से तुलना। लेकिन वास्तविकता में यह सूचना एक्सॉल्यूट कीमत (डॉलर में या पौंड में क्रोनर में) के तौर पर दी जाती है। अगर कीमतों का स्तर औसतन स्थायी हो या एक स्थायी दर से बदल रहा हो तो उपलब्ध एक्सॉल्यूट कीमतों से भी रिलेटिव कीमतों का अंदाजा लगाना ज्यादा आसान हो जाता है। आम मुद्रास्फीति की दर जितनी ज्यादा परिवर्तनशील होगी, एक्सॉल्यूट कीमतों से रिलेटिव कीमतों का पता लगाना उतना ही मुश्किल होगा। रिलेटिव कीमतों की सूचना का प्रसारण उतना ही बाधाओं भरा होगा जितना कि मुद्रास्फीति की जानकारी का प्रसारण (लुकास18, 19, हारबर्गर11)। जब ऐसे हालात चरम पर हों तो एक्सॉल्यूट कीमतों का तंत्र अनुपयोगी हो जाता है। ऐसे में आर्थिक कारक या तो वैकल्पिक मुद्रा का सहारा लेते हैं या फिर इसका उत्पादन पर बहुत ज्यादा नकारात्मक असर पड़ता है। फिर एक बार आर्थिक कार्यकुशलता पर असर स्पष्ट

होता है, बेरोजगारी पर तुलनात्मक रूप से कम। लेकिन फिर ऐसा संभव दिखता है कि बाजार में मिल रहे गलत संकेतों से बेरोजगारी की औसत दर में इजाफा होगा। कम से कम उस अवधि के दौरान जब तक संस्थागत व्यवस्थाएं नई परिस्थितियों से तालमेल न बिठा लें।

कीमतों के निर्धारण की आर्थिक स्वतंत्रता के बावजूद मुद्रास्फीति की अनिश्चितता का असर तो बढ़ेगा ही। ठीक वैसे ही मानो मुद्रास्फीति पर किसी का प्रभाव न हो। लंबी अवधि के अनिश्चित कम लचीले अनुबंधों का प्रभाव और कीमतों के संकेतों में घालमेल, कीमत निर्धारण पर कानूनी बंदिशों से नियंत्रित किया जा सकता है। आज के आधुनिक युग में पोस्ट ऑफिस से लेकर अधिकतर सेवाओं की प्रदाता सरकार ही होती है, अन्य कीमतों पर सरकार का नियंत्रण होता है और कीमतों में परिवर्तन के लिए सरकार की मंजूरी लेनी पड़ती है। बात फिर हवाई जहाज या टैक्सी के भाड़े की हो या फिर बिजली की। इन मामलों में सरकार कीमतों के निर्धारण की प्रक्रिया से बच नहीं सकती। साथ ही अनिश्चित मुद्रास्फीति को लेकर सामाजिक और राजनीतिक दबाव के चलते सरकार को अन्य क्षेत्रों में मुद्रास्फीति को कम करने के प्रयासों के लिए मजबूर होना पड़ेगा। वह कीमतों और वेतन पर नियंत्रण से या फिर निजी उद्योगों पर दबाव से या विनिमय दर बदलने के लिए विदेशी मुद्रा विनिमय में स्पेक्युलेशन से ऐसा करने की कोशिश करती है।

वक्त और देश के साथ जानकारी बदल सकती है, लेकिन आम परिणाम एक समान है। आर्थिक गतिविधियों के मार्गदर्शन के लिए कीमतों के तंत्र की क्षमता को कम करना, ज्यादा प्रतिरोध के चलते तुलनात्मक कीमतों से छेड़छाड़, जैसा की सभी बाजारों में होता है और संभवतया बेरोजगारी की ज्यादा दर (5)।

मैंने जिन ताकतों का जिक्र किया है वह राजनीतिक और सामाजिक तंत्र को बुरी तरह से अस्थिर कर हायपर इन्फ्लेशन के साथ आमूल-चूल राजनीतिक परिवर्तन का कारण बन सकती हैं। जैसा कि पहले विश्वयुद्ध में पराजित कई देशों और अभी हाल में चिली और अर्जेंटीना में हुआ। इस स्थिति से ठीक विपरीत स्थिति की बात की जाए तो ऐसी मुसीबत आने से पहले ही ऐसी नीतियां अपनाई जा सकती हैं, जो एक तुलनात्मक रूप से कम और स्थिर मुद्रास्फीति की दर हासिल कर कीमतों के

निर्धारण की कई बाधाओं को दूर कर देंगी। जो एक बार फिर प्राकृतिक दर की परिकल्पना की पूर्व स्थितियों को बहाल कर देंगी। इससे इस परिकल्पना की मदद से परिवर्तन के दौर के प्रभावों के अध्ययन का काम फिर से संभव हो सकेगा। ऐसी संभावना भी होगी कि मुद्रास्फीति की ऊंची दर के बावजूद पूरा तंत्र एक स्थायित्व को हासिल कर लेगा। ऐसे में बेरोजगारी भी परिवर्तन के दौर की तुलना में एक बेहतर स्थायी दर पर थम जाएगी। जैसी की पहले भी चर्चा हो चुकी है, कीमतों के तंत्र (प्राइस सिस्टम) में अनिश्चितता के माहौल के बढ़ते जाने और सरकार के बढ़ते हस्तक्षेप बेरोजगारी बढ़ने के कारणों में से प्रमुख हैं। ज्यादा अनिश्चितता और ज्यादा हस्तक्षेप की तुलना में।

अनिश्चितता और हस्तक्षेप से बचने के तौर-तरीके समय के साथ विकसित होंगे। इंडेक्सिंग और मुद्रास्फीति से निपटने के ऐसे ही तरीकों से। ऐसा कीमतों और वेतन में बदलाव के परोक्ष तरीकों के विकास और सरकारी नियंत्रण को हटाकर भी संभव है। ऐसे हालात में लंबा चलने वाला फिलिप्स कर्व (लांग रन फिलिप्स कर्व) वर्टिकल ही होगा। और हम फिर प्राकृतिक दर की परिकल्पना की ओर लौट आएंगे। इसका कारण पहले की तुलना में मुद्रास्फीति की दर का अलग स्तर हो सकता है।

क्योंकि हमारा उद्देश्य ज्यादा मुद्रास्फीति और ज्यादा बेरोजगारी के सह-अस्तित्व को समझाना है, इसलिए मैंने मौद्रिक तंत्र (मॉनिटरी सिस्टम) में परिवर्तन से आए संस्थागत परिवर्तनों की बात की है। ऐसा तंत्र जिसमें ज्यादा और ज्यादा बदलने वाली मुद्रास्फीति के साथ मेल रखने वाली कीमत का एक सामान्य स्तर (नॉर्मल प्राइस लेवल) था। यहां इस बात पर ध्यान दिए जाने की जरूरत है कि एक बार ये संस्थागत परिवर्तन करने के बाद, जब आर्थिक कारकों ने अपने आपको इस परिवर्तन के लिहाज से तैयार कर लिया हो, पहले के मौद्रिक तंत्र से ठीक उलट या नए मौद्रिक तंत्र के ढांचे में कम मुद्रास्फीति की नीति के लिए भी काफी तालमेल बिठाना पड़ेगा। संभव है कि इसके रोजगार पर कई विपरीत प्रभाव परिवर्तन के दौर के प्रभावों जैसे ही हों। ऐसे में मेरे द्वारा चर्चित सकारात्मक ढलान वाले कर्व की

बजाय बीच में चलने वाला नकारात्मक ढलान वाला फिलिप्स कर्व (निगेटिवली स्लोपड फिलिप्स कर्व) देखने को मिल सकता है।

5. उपसंहार

तीस के दशक की केनेसियन क्रांति की बात की जाए तो यह देखने को मिला था कि कम अवधि के आर्थिक परिवर्तनों के विश्लेषण के लिए स्थिर एब्सॉल्यूट वेतन स्तर और उतने ही स्थिर कीमतों के स्तर को स्वीकारना पड़ेगा। यह मान लिया गया था कि ये अनिवार्य संस्थागत आंकड़े हैं और आर्थिक कारकों ने भी यही मान लिया था। यही वजह है कि एग्जीगेट नॉमिनल डिमांड में परिवर्तन पूरी तरह से उत्पादन (आउटपुट) में दिखाई देगा न कि कीमतों में। एब्सॉल्यूट प्राइस और तुलनात्मक कीमतों को लेकर असमंजस फिर एक बार गहरा गया।

इस तरह के बौद्धिक माहौल में यह तो तय है कि अर्थशास्त्री, बेरोजगारी के वास्तविक की बजाय नॉमिनल वेतन से संबंध का विश्लेषण करना चाहेंगे। साथ ही वे अनुमानित नॉमिनल वेतन में परिवर्तन को अनुमानित वास्तविक वेतन के परिवर्तनों की तरह ही देखेंगे। बेरोजगारी के स्तर और नॉमिनल वेतन में परिवर्तन की दर के बीच के स्थायी संबंध का सुझाव एक ऐसे वक्त का निष्कर्ष था जब कीमतों में कम वक्त के भारी उतार-चढ़ाव के बाद भी लंबी अवधि में कीमतें स्थिर रहा करती थीं और जब लगातार स्थिरता के विचार में सभी का विश्वास था। ऐसे में ये आंकड़े आकलनों को लेकर कोई चेतावनी नहीं देते थे।

आर्थिक जगत ने बेरोजगारी के स्तर और मुद्रास्फीति की दर के बीच के स्थायी संबंध को काफी तत्परता के साथ स्वीकार लिया था। इसने दरअसल कीन्स के सैद्धांतिक ढांचे की कमियों को भर दिया था। यह उसी समीकरण की तरह था जिसकी कमी खलने की बात कीन्स ने भी की थी (15)। साथ ही इसे आर्थिक नीति को लेकर भरोसेमंद मददगार की तरह माना गया। ऐसा मददगार जिसकी मदद से अर्थशास्त्री नीति निर्धारकों को उपलब्ध विकल्पों के बारे में जानकारी दे सकें।

जैसा कि सभी विज्ञानों में होता है, जब तक अनुभव किसी परिकल्पना के साथ समानता दिखाता रहता है, उसे स्वीकार किया जाता है, हालांकि कुछ असहमत लोग इस पर सवाल उठाते रहते हैं।

लेकिन जैसे-जैसे पचास का दशक साठ में तदील हुआ और साठ का दशक सत्तर में तदील हुआ, किसी भी परिकल्पना को उसके साधारण स्वरूप में स्वीकार करना मुश्किल होता गया। लगता है कि बेरोजगारी का स्तर कम रखने के लिए मुद्रास्फीति की बढ़त के सिलसिले स्वीकार किए जाते रहे। मुद्रास्फीतिजनित मंदी अपना सिर बार-बार उठाती रही।

श्रमिक संगठनों की शांति जैसे विशेष कारकों के हवाले से परिकल्पना को दुरुस्त करने के प्रयास किए जाते रहे, लेकिन नतीजे हमेशा उस दुरुस्ती वाले स्वरूप से लगातार भिन्न ही रहे।

अब ज्यादा क्रांतिकारी बदलाव की जरूरत थी। अब यह एकदम चौंकाने वाले स्वरूप पर जोर देने लगा था यानी वास्तविक और संभावित स्तर के बीच अंतर पर उसका जोर था। इसने वास्तविक और नगण्य परिमाण के बीच की विशिष्टता को प्रमुखता से स्थापित कर दिया। बेरोजगारी की एक स्वाभाविक दर हमेशा होती है, जिसका निर्धारण वास्तविक कारकों से किया जाता है। यह स्वाभाविक दर तभी हासिल होती दिखाई देती है जब अपेक्षाएं कार्यरूप में बदल रही हों। यही वास्तविक स्थिति है, जो कीमतों या कीमतों में परिवर्तन के शुद्ध स्तर में बनी रहती है, बशर्ते शेष धन बनाए रखने की वास्तविक लागत पर कीमतों में बदलाव के लिए छूट दी जाए। इस लिहाज से धन एक उदासीन तत्व है। दूसरी तरफ सकल साधारण मांग और मुद्रास्फीति में आकस्मिक बदलाव से नियोक्ता और कर्मचारी दोनों की राय में व्यवस्थागत गड़बड़ी आती है। नतीजा यह होता है कि अपनी स्वाभाविक दर से विपरीत दिशा में भटककर यह बेरोजगारी बढ़ाती है। इस संदर्भ में धन निरपेक्ष नहीं है। हालांकि ऐसे विचलन कुछ समय के लिए होते हैं लेकिन ये विचलन अंततः अनुमान के हिसाब से खत्म होने और उलटने में लंबा कालानुक्रमिक समय लेते हैं।

स्वाभाविक दर परिकल्पना में मूल फिलिप्स वक्र परिकल्पना एक विशेष मामले की तरह है और यह व्यापक अनुभवों को तर्कसंगत बनाने का काम करती है। खासतौर से इस काम को वह मुद्रास्फीतिजन्य मंदी के हालात में करती है। अब यह बात बड़ी हद तक लेकिन सार्वभौमिक रूप से नहीं, स्वीकार कर ली गई है। हालांकि, स्वाभाविक दर परिकल्पना मौजूदा स्वरूप में ताजा घटनाक्रम, यानी मुद्रास्फीतिजन्य मंदी से कीमतों में गिरावट वाली मंदी की ओर की व्याख्या करने में पूरी तरह सक्षम नहीं है? हाल ही के वर्षों में ऊंची मुद्रास्फीति की दर के साथ बेरोजगारी की कम दर नहीं बल्कि ऊंची दर, जैसा फिलिप्स वक्र में साफ दिखाई देता है, भी जुड़ी रही है। इसमें बेरोजगारी की समान दर भी साथ नहीं दिखाई देती, जैसा स्वाभाविक दर परिकल्पना से पता लगता है।

ऊंची मुद्रास्फीति की दर और ऊंची बेरोजगारी की दर के कारण तेल संकट जैसे सामान्य असर दिखाई दे सकते हैं या ऐसे स्वतंत्र कारक दिखाई दे सकते हैं जिससे मुद्रास्फीति और बेरोजगारी की तरफ विकासमान रुख दिखाई देता है।

कुछ देशों में एक प्रमुख कारक, जो अन्य देशों में भी असर डालने वाला कारक है, यह है कि ये देश संक्रमणकाल में हैं। उनका यह समय दशकों में मापा जाएगा, वर्षों में नहीं। नए मौद्रिक वातावरण के हिसाब से लोक व्यवस्था ने अब तक अपने व्यवहार या अपनी संस्थाओं को ढाला नहीं है। मुद्रास्फीति लगातार ऊंचाई की तरफ ही नहीं जा रही, बल्कि निरंतर अस्थिर भी हुई है। कीमतों की व्यवस्था में सरकार के बढ़ते हस्तक्षेप से भी उसका सरोकार रहा है। मुद्रास्फीति की बढ़ती अस्थिरता और बाजार की शक्तियों द्वारा निर्धारित होने वाले मूल्यों की व्यवस्था से सापेक्षिक कीमतों की तरफ बढ़ने से आर्थिक व्यवस्था की क्षमता घटेगी, क्योंकि इससे सभी बाजारों में संघर्ष की स्थिति पैदा होगी और इस बात की पूरी संभावना है कि बेरोजगारी की दर रिकार्ड स्तर पर पहुंच जाएगी।

इस विश्लेषण में मौजूदा स्थिति नहीं चल सकती। मौजूदा स्थिति या तो अत्यधिक मुद्रास्फीति (हाइपर इन्फ्लेशन) में जाएगी या इसमें क्रांतिकारी बदलाव होंगे। या संस्थाएं एक ऐसी स्थिति की अभ्यस्त हो जाएंगी जिसमें दीर्घकालिक मुद्रास्फीति

होगी। या सरकार ऐसी नीतियां अपनाएगी जिसमें मुद्रास्फीति की दर कम रहेगी और कीमतों के निर्धारण में सरकार की भूमिका कम होगी।

मैं पहले ही एक मानक उदाहरण पेश कर चुका हूं कि किस तरह से वैज्ञानिक सिद्धांत बदल जाते हैं। हालांकि यह एक ऐसी बात है, जिसका दूरगामी महत्व है। मुद्रास्फीति और बेरोजगारी के बारे में सरकार की नीति राजनीतिक विवाद के केंद्र में रही है। विचारधारा के लिहाज से इन मसलों पर काफी संघर्ष हो चुका है।

हालांकि अर्थशास्त्र के सिद्धांतों में जो भी बड़े बदलाव आए हैं उनका कारण विचारधारा का संघर्ष नहीं है। यह अलग-अलग राजनीतिक विचारों या उद्देश्यों का नतीजा भी नहीं है। बल्कि इसने घटनाओं के क्रम का ही जवाब दिया है:

राजनीतिक या वैचारिक पसंद या नापसंद के बजाय कठोर अनुभव ज्यादा ताकतवर साबित हुए हैं।

मानवता के लिए एक सकारात्मक आर्थिक विज्ञान का महत्व करीब दो सौ साल पहले पियरे एस. ड्यूपोट, जो फ्रेंच नेशनल असेंबली में नेमूर का सहायक था, के एक कथन में दिखाई देता है। यह कथन फ्रांसीसी क्रांति की वैध मुद्रा संबंध अतिरिक्त प्रावधान के प्रस्ताव पर बोलते समय कहा गया था:

“महानुभावों, खराब इरादों की परिकल्पना एक ऐसा रिवाज हो गया है जिससे असहमत नहीं हुआ जा सकता लेकिन बहस की कठोरता के कारण अक्सर यह स्थिति पैदा होती है। इरादों के प्रति व्यक्ति को उदार या कृपालु होना जरूरी है। हर व्यक्ति को उन्हें अच्छा मानना चाहिए, अच्छे वे दिखाई भी देते हैं, लेकिन हमें बदलते तर्क या वाहियात तर्कों के प्रति उदार नहीं होना चाहिए। बुरे लोग जानबूझकर जो अपराध करते हैं, खराब तर्कों वाले लोगों ने उससे ज्यादा गैर इरादतन अपराध किए हैं। (25 सितंबर 1790)

आभार

मैं इस शोध पत्र के पहले मसौदे पर मददगार टिप्पणियों के लिए गैरी बेकर, कार्ल ब्रूनर, फिलिप कैगन, रॉबर्ट गार्डन, अर्नाल्ड हारबर्गर, हैरी जी जॉनसन, एस. वाई. ली, जैक्स लोथियन, राबर्ट ई. लुकास, डेविड मीसेलमेन, एलन मेल्टजर, जोस शेंकमैन,

थियोडोर डल्यू, शुल्त्ज, अन्ना जे. श्वार्त्ज, लैरी जस्टाड, जार्ज जे स्टिगलर, स्वेनइवान संडक्विस्ट और यूनीवर्सिटी ऑफ शिकागो में मनी और बैंकिंग पर कार्यशाला में हिस्सेदारी करने वाले लोगों का बड़ा आभारी हूं।

मैं तहेदिल से अपनी पत्नी रोज डिरेक्टर फ्रायडमैन का भी बड़ा आभारी हूं, जिसने इस शोध पत्र को तैयार करने में हर स्तर पर भूमिका निभाई। अपनी सचिव ग्लोरिया वेंलेटाइन का भी आभारी हूं, जिसने अपने कर्तव्य से भी ज्यादा और बढ़कर काम किया है।

संदर्भ

- (1) फ्रायडमैन, मिल्टन. “द मेथडोलॉजी ऑफ पॉजिटिव इकोनॉमिक्स”। *एसैज इन पॉजिटिव इकोनॉमिक्स* (शिकागो: यूनीवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, 1953)
- (2) --, “व्हाट प्राइस गाइडपोस्ट्स?” जी.पी. शुल्त्ज और आर.जेड. अलीबेर, गाइडलाइंस: *इनफॉर्मल कांटैट्स एंड द मार्केट प्लेस* (शिकागो: यूनीवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, 1966) पेज 17-39 और 55-61
- (3) --, “एन इन्फ्लेशनरी रिसेशन”, न्यूजवीक, अक्टूबर 17, 1966
- (4) --, “द रोल ऑफ मॉनिटरी पॉलिसी” *अमेरिकन इकोनॉमिक रिव्यू*: 58 (मार्च 1968) 117
- (5) --, *प्राइस थ्योरी* (शिकागो: आल्डिन पब्लिशिंग कंपनी 1976) चैप्टर 12
- (6) --, *इन्फ्लेशन: केसेस एंड कॉन्सिक्वेंसेस* (बॉम्बे: एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1963), पुनः प्रकाशन *डॉलर्स एंड डेफिसिट्स* (एंगलवुड क्लिफ्स. एन.जे.: प्रेंटिस हाल, 1968), पेज 21-71
- (7) गॉर्डन रॉबर्ट जे, “आल्टरनेटिव रिस्पांसेस ऑफ पॉलिसी टु एक्सटर्नल सप्लाई शॉक्स”, *बुकिंग्स पेपर्स ऑन इकोनॉमिक एक्टिविटी नं-1* (1975), पेज 183-206.
- (8) --, “द डिमांड एंड सप्लाई ऑफ इन्फ्लेशन”, *जर्नल ऑफ लॉ एंड इकोनॉमिक्स* (दिसंबर 1975): 807-836.
- (9) --, “रिसेंट डेवलपमेंट्स इन द थ्योरी ऑफ इन्फ्लेशन एंड अनइम्प्लायमेंट”, *जर्नल ऑफ मॉनिटरी इकोनॉमिक्स 2* (1976:) 185-219

- (10) ग्रे, जो एन्ना, “एसेज ऑन वेज इनडेक्सेशन”, अप्रकाशित पीएचडी डिसर्टेशन, यूनीवर्सिटी ऑफ शिकागो, 1976
- (11) हारबर्गर, अर्नाल्ड सी. “इन्फ्लेशन” *द ग्रेट आडियाज टुडे*, 1976, (शिकागो: एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, इंक., 1976) पेज 95-106.
- (12) --, “द इन्फ्लेशन प्रॉब्लम्स इन लैटिन अमेरिका”, *इंटर अमेरिकन कमिटी ऑफ अलायंस फॉर प्रोग्रेस* की ब्यूनस आयर्स (मार्च 1966) में बैठक के लिए तैयार रिपोर्ट, जो स्पेनिश में “एल प्रालेमा डि ला इनफ्लेशन एन अमेरिका लैटिना” के नाम से प्रकाशित हुई। सेंट्रो डि स्टूडियोस मोनिटेरियोस लैटिनोमेरिकोस. *बोलेटिन मेनसुअल*, जून 1966 पेज 253-269. इकोनॉमिक डेवलपमेंट इंस्टीट्यूट के *ट्रेबाजोस सोबर डिसेरेलो इकानामिको* वाशिंगटन डीसी, आईबीआरडी, 1967 में पुनः प्रकाशित।
- (13) हाएक, एफ.ए., “द यूज ऑफ नॉलेज इन सोसाइटी”, *अमेरिकन इकोनॉमिक रिव्यू*, 35 (सितंबर 1945): 519-530
- (14) जैफ, इवाइट एंड क्लीमैन, ईफ्रेम. “द वेल्फेयर इम्प्लीकेशंस ऑफ अनईवन इन्फ्लेशन”, सेमिनार पेपर नंबर 50, इंस्टीट्यूट फॉर इंटरनेशनल इकानामिक स्टडीज़, यूनिवर्सिटी ऑफ स्टॉकहोम, नवंबर 1975
- (15) कीन्स, जे.एम., *जनरल थ्योरी ऑफ एम्प्लायमेंट, इनटरेस्ट एंड मनी* (लंदन, मैकमिलन, 1936) पेज नं. 276
- (16) क्लेन, बेंजामिन, “अवर न्यू मॉनिटरी स्टैंडर्ड: द मेजरमेंट एंड इफेक्ट्स ऑफ प्राइस अनसर्टेनिटी, 1880-1973,” *इकोनॉमिक इनक्वायरी*. दिसंबर 1975, पेज 461-483
- (17) लॉग, डेनिस ई. और विलेट. थामस डी, “अ नोट ऑन द रिलेशन बिटवीन द रेट एंड वैरिएबिलिटी ऑफ इन्फ्लेशन”, *इकोनॉमिका*, मई 1976, पेज 151-158
- (18) लुकास, रॉबर्ट ई, “सम इंटरनेशनल एविडेंस ऑन आउटपुट इन्फ्लेशन ट्रेडऑफ्स”. *अमेरिकन इकोनॉमिक रिव्यू* 63 (जून 1973): 326-334
- (19) --, “एन इक्विलीब्रियम मॉडल ऑफ द बिजनेस साइकल” *जर्नल ऑफ पॉलिटिकल इकोनॉमी* 83 (दिसंबर 1975): 1113-1144

- (20) मीज़लमैन, डेविड, “कैपिटल फार्मेशन. मॉनिटरी ऐंड फाइनेंशियल एडजस्टमेंट्स”. प्रोसिडिंग्स नेशनल कांफ्रेंस ऑफ टैक्स फाउंडेशन-27 1976, पेज 915
- (21) मुथ, जॉन, “रैशनल एक्सपेक्टेड ऐंड द थ्योरी ऑफ प्राइस मूवमेंट्स”. *इकोनॉमेट्रिका* 29 (जुलाई 1961): 315-333
- (22) फेल्ट्स ई एस, “फिलिप्स कर्व, एस्पेक्टेड ऑफ इनफ्लेशन ऐंड ऑप्टिमल अनइम्प्लायमेंट ओवर टाइम”. *इकोनॉमिका* (एनएस) 34; (अगस्त 1967): 254-281
- (23) --, “मनी वेज डायनामिक्स ऐंड लेबर मार्केट इक्विलिब्रियम”. ईएस फेल्ट्स एडीशन- *माइक्रोइकनामिक फाउंडेशंस ऑफ इम्प्लायमेंट ऐंड इनफ्लेशन थ्योरी* (न्यूयार्क: नॉर्टन 1970)
- (24) फिलिप्स ए.डल्यू. “द रिलेशनशिप बिटविन अनइम्प्लायमेंट ऐंड द रेट ऑफ चेंज ऑफ मनी वेज रेट्स द यूनाइटेड किंगडम, 1861-1957. *इकोनॉमिका*, नवंबर 1958, पेज 283-299
- (25) जास्टाड. लैरी ए, *मॉनिटरी पॉलिसी ऐंड सप्रेस्ड इन्फ्लेशन इन लैटिन अमेरिका* आर.जे. अलीबेर, एडीशन *नेशनल मॉनिटरी पॉलिसीज ऐंड द इंटरनेशनल फाइनेंशियल सिस्टम* (शिकागो: यूनीवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस 1974) पेज 127-138

----- समाप्त -----